ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Vol.-3; Issue-2 (Apr.-June) 2026
Page No.- 308-316
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. रीता चौधरी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
कोचबिहार पंचानन बर्मा विश्वविद्यालय,
कोचबिहार, पश्चिम बंगाल, भारत

Corresponding Author :

डॉ. रीता चौधरी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
कोचबिहार पंचानन बर्मा विश्वविद्यालय,
कोचबिहार, पश्चिम बंगाल, भारत

हिंदी आदिवासी कविता में पर्यावरणीय नैतिकता : आदिवासी जीवन-दर्शन और सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन

शोध सारांश: वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में उपभोक्तावाद, बाजारवादी संस्कृति और पूँजीवाद ने मानव जीवन के विविध आयामों को प्रभावित किया है। पूँजी अब अपने विकास की अंतिम यात्रा पूरी करती हुई साम्राज्यवाद के युग में पहुंचकर शिखर पर परचम लहरा रही है। अब यह वित्त-पूँजी के रूप में विध्वंसकारी बन गई है और तबाही मचा रही है। चाहे जितना भी संकट का दौर रहा हो, यह पूंजीवादी व्यवस्था अपने को बचाए रखने में सक्षम रही है। इस व्यवस्था ने सम्पूर्ण पृथ्वी का भयंकर दोहन किया है, विशेषकर प्रकृति और पर्यावरण का। संसाधनों की लूट की मनोवृत्ति ने जीवन को लगभग तबाही के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। उपभोग की संस्कृति ने संसार से उस दर्शन को ख़त्म करने का काम किया है, जिसके माध्यम से धरती बची रह सकती है। आदिवासी जीवन-दर्शन और संस्कृति ही धरती पर प्रकृति और जीवन को बचाए रख सकती है, लेकिन बाजारवादी संस्कृति का सबसे बड़ा भुक्तभोगी कहा जाए अथवा शिकार यही आदिवासी-दर्शन और जीवन रहा है। औद्योगिक विकास और तथाकथित आधुनिकता के नाम पर आदिवासियों का निरंतर विस्थापन हुआ है, जिससे वे न केवल अपनी भूमि से, बल्कि अपनी भाषा, संस्कृति और जीवन-दर्शन से भी दूर होते जा रहे हैं। और इससे केवल आदिवासी प्रभावित नहीं हो रहे हैं, बल्कि पूरी धरती प्रभावित हो रही है। आदिवासी जीवन दर्शन मूलत: प्रकृति-केन्द्रित होता है। यहाँ मनुष्य को प्रकृति का स्वामी नहीं बल्कि उसका एक हिस्सा माना जाता है, जंगल, नदी, पहाड़ को जीवंत इकाई समझा जाता है, जितनी जरूरत हो उतना ही उपभोग ही उपभोग का सिद्धांत अपनाया जाता है, सामुदायिक जीवन, साझेदारी और संतुलन इसकी मूल विशेषता है। इसके विपरीत पूँजीवाद का मूल आधार, अधिकतम लाभ कमाना है। पूँजी, प्राकृतिक संसाधनों का व्यवसायिक दोहन करती है, उपभोक्तावाद को बढ़ावा देती है, केवल और केवल अन्धाधुन उत्पादन

को महत्त्व देती है। इस व्यवस्था में प्रकृति को केवल 'संसाधन' माना जाता है, न कि जीवंत इकाई। परिणामस्वरुप जंगलों की अंधाधुन कटाई की जा रही है, जल स्रोतों को प्रदूषित किया जा रहा है और भूमि का अंधाधुन उपयोग किया जाता है। औद्योगिक विकास आर्थिक प्रगति तो दे रही है, लेकिन इसके साथ गंभीर पर्यावरणीय समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं हैं। वायु, जल, भूमि क्षरण एवं जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याएँ तो हैं ही, इसके साथ बड़े-बड़े खनन प्रोजेक्ट्स और बांधों के निर्माण के कारण आदिवासी क्षेत्रों में विस्थापन और पर्वारण असंतुलन बढ़ा है। आदिवासी संस्कृति पर्यावरणीय संस्कृति रही है। प्रकृति के प्रति यह उनका प्रेम ही है, जो प्रकृति के दोहन के खिलाफ सत्ता और पूँजी के विरोध में खड़ी कर देती है। और यही भाव आदिवासी साहित्य और सोच के केंद्र में है। कहा जा सकता है कि आदिवासी कविताएँ इसी प्रतिरोध का एक हिस्सा हैं, आदिवासी कविताएँ वे कविताएँ हैं, जिसमें आदिवासी चिंतन एवं चेतना दिखाई देती है। हिंदी आदिवासी कविता इस दर्शन को समकालीन संवेदना के साथ परिभाषित करती है। इस आलेख में हम आदिवासी जीवन-दर्शन और पर्यावरणीय नैतिकता को कुछ आदिवासी कवियों और कविताओं के उदाहरण के माध्यम से समझ सकेंगे। ये कविताएँ आदिवासी चिंतन एवं चेतना की कविताएँ हैं।

बीज शब्द : आदिवासी जीवन दर्शन, पर्यावरणीय नैतिकता, हिंदी आदिवासी कविता, सह-अस्तित्व, सांस्कृतिक अध्ययन, प्रकृति चेतना, सतत विकास, उपभोक्तावाद, पूँजीवाद, औद्योगिक विकास, बाजारवादी संस्कृति, साम्राज्यवाद, धरती और मानव-जीवन।

मूल आलेख : आदिवासी जीवन दर्शन जीवन और प्रकृति के बीच संतुलन और सहअस्तित्व पर आधारित एक समृद्ध और प्राचीन विचार प्रणाली है। यह दर्शन केवल जीने की पद्धति नहीं, बल्कि एक ऐसी सांस्कृतिक चेतना है, जिसमें प्रकृति, समाज और आध्यात्मिकता का गहरा सम्बंध स्थापित होता है। आदिवासी जीवन-दर्शन प्रकृति और सामूहिकता को महत्त्व देता है। उनका दर्शन सृष्टि के संतुलन को बनाए रखने पर केन्द्रित है, जो प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाने और रीती-रिवाजों को प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने पर आधारित है, आपसी सहयोग यहाँ महत्त्वपूर्ण है। यह समुदाय धरती, जंगल, नदी, पर्वत सबको जीवित सत्ता के रुप में देखता है और मानता है कि मनुष्य इसी का एक हिस्सा है। धरती के साथ इनका सम्बंध संपत्ति का नहीं बल्कि सहजीवन और साझेदारी का होता है। श्रम संस्कृति को मानने वाला यह समुदाय सामूहिकता, परंपरा और उत्सव में जीवन और प्रकृति को देखता है। आदिवासी समाज "मैं" नहीं "हम" के भाव पर आधारित है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में जहां पूँजी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में अपने को स्थापित कर चुकी है, औद्योगीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण पर्यावरणीय संकट गहराता जा रहा है, ऐसे में यही आदिवासी दर्शन और दृष्टि धरती पर जीवन बचाए रखने का मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता रखती है, इसके अलावा दूसरा कोई भी मार्ग यह काम नहीं कर सकता। और यही दर्शन एवं दृष्टि आदिवासी कविताओं के प्राण तत्व हैं। सामान्यतः आदिवासी कविताओं को सिर्फ और सिर्फ आदिवासियों के शोषण के खिलाफ प्रतिरोध और संघर्ष के रूप में देखा जाता रहा है, जबकि यह प्रतिरोध और संघर्ष पूरी धरती के शोषण के खिलाफ है, क्योंकि प्रकृति बचेगी तभी धरती पर जीवन का अस्तित्व भी बचेगा। इसलिए आदिवासी कविताओं को ठीक से पढ़ने-समझने की आवश्यकता है। ये कविताएँ संवाद का काम करती हैं, संवाद ही विभिन्न जनसंस्कृतियों में आपसी संपर्क स्थापित कर सकती है, विभिन्न संघर्षों से परिचय करवा सकती है, आपसी तालमेल को विश्वास प्रदान कर सकती है। आदिवासी कवयित्री पार्वती तिर्की की कविताओं में प्रकृति और जीवंत सत्ता के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। 'जंगल दईत' उनकी एक कविता है, देखिए **-"पुरखे कहानी कहते हैं / समझो और बूझो! / वे बुझाते हुए कहते हैं –क्या तुम्हें मालूम है! / मेरखा राजी अपना रास्ता क्यों नहीं बेदाता?/ परता- तोड़ोंग अपनी दिशा से क्यों नहीं भटकता? / खाड़-खोसरा कैसे संतुलित हैं?/ फिर समझाते हुए कहते हैं / जंगल दईत!"[1]**

चूंकि आदिवासियों के जीने की कला का उदाहरण उनके गीत-संगीत में निहित हैं। उनके लोक नृत्यों और

गीतों की निर्मिती जीवन निर्माण के साथ जुड़ी हुई है। संग-साथ और गीतों-नृत्यों का एक गहरा सम्बंध है। वे नृत्य करते हैं धरती के संतुलन के लिए और गीत गाते हैं धरती पर प्रेम के लिए। पार्वती तिर्की की कविता 'तोकना' उसी जीवन-संस्कृति का उदाहरण है- **"उसने गीत गाते हुए/ अपनी संगी के जुड़े में/ जतंगी के फूल खोंसे/ प्रेम की रीझ ने/ प्रेमिका को नृत्य करने के लिए/ आतुर किया !/ फिर उन्होंने साथ मिलकर/ गीत गाए और नृत्य किया !/ इसके बाद मनुष्य/ सामूहिक रूप से/ नृत्य करते हुए-फसलों के लिए/ पृथ्वी को/ हमेशा नतमस्तक हुए/ फिर वे समूह में/ एक साथ/ नृत्य करते हुए- शिकार और बारिश के लिए/ पृथ्वी को/ हमेशा नतमस्तक हुए।"**[2] आदवासी समाज की परम्पराएं, लोककथाएं, गीत, नृत्य और रीती-रिवाज उनके जीवन-दर्शन को ही अभिव्यक्त करते हैं। कविता की पंक्तियाँ बताती हैं कि आदिवासी और प्रकृति के बीच का सम्बंध सहजीवी और पारस्परिक रहा है, जिसमें प्रकृति उनके जीवन, संस्कृति और आध्यात्मिकता का अभिन्न अंग है। प्रकृति से उनका रिश्ता बेहद मानवीय रहा है। जंगल माता रही है तो नदी बहन, पहाड़ रक्षक रहे हैं तो कृषि अनुष्ठान, शिकार उनके लिए मार्यादा का सिद्धांत रहा है। इसलिए-**"इस जंगल में/ चिड़ियों और मनुष्य का संवाद/ नदी की तरह कायम था- निरंतर.....।"**[3]

प्रकृति और मनुष्य का ऐसा प्रेम कि वह प्रेम में पेड़ हो जाता है, या हो जाना चाहता है। प्रसिद्ध आदिवासी कवयित्री जसिंता केरकेट्टा लिखती हैं- **"वह कहता है/ प्रेम में कोई पेड़ हो जाए/ फिर उसका प्रेमी भर होना, बहुत छोटा होना है/ बहुत देर उसे देखती हूँ/ सोचती हूँ/ आदिवासी दुनिया में कैसे/ प्रेम भी पेड़ हो जाता है।" आगे वे लिखती हैं, "वे सब जो अपने हिस्से का प्रेम करते हैं तुमसे/ उनका भी कृतज्ञ हूँ मैं/ आसान नहीं होता प्रेम करना/ धरती उनके ही प्रेम से बची हुई है।"**[4] यह प्रेम दो व्यक्तियों के बीच का प्रेम नहीं है, इस प्रेम में समग्र सृष्टि समाहित है। यह मनुष्य और प्रकृति के बीच का प्रेम है, जिसमें बिना किसी प्रतिसाद की कामना के प्रकृति मनुष्य से प्रेम करती रहती है। आगे अपनी दूसरी कविता में प्रेम के अन्यायपूर्ण बंटवारा और इसी 'पेड़' के उखड़ जाने का दुःख भी अभिव्यक्त करती हैं। पेड़ का उखड़ना और उखाड़कर फ़ेंक देना बहुत साधारण बात नहीं हैं, लेकिन उसको साधारण कर दिया गया। धरती को पेड़ की जड़ें ही बांधे रहती हैं। **"एक पेड़ के उखड़ने से/ पेड़ एकबार ही उखड़ता है/ पर उससे जुड़ा आदमी/ दो बार उखड़ता है/ एक बार अपनी जमीन से/ और दूसरी बार/ अपनों की स्मृतियों से।"**[5] पेड़ के उखड़ने के माध्याम से जसिंता ने विस्थापन की पीड़ा को बहुत ही मार्मिक रूप से अभिव्यक्त किया है। विस्थापन कैसे अपनों और अपनों की स्मृतियों तक से दूर कर देता है, पहचान कैसे ख़त्म कर देता है, उसी का उदाहरण हैं ये पंक्तिया। जमीनों का दोहन करने वाली संस्कृति, पूँजी, पेड़ों को बर्दाश्त नहीं कर पाती है, वह जंगलों की अंधाधुन कटाई करती रहती है। आनेवाली पीढ़ियों के लिए चिंतित समाज, जमीन की वास्तविकताओं से परिचित होता है, जमीन की वास्तविक अहमियत समझता है, जमीन के लिए पेड़ों की कीमत समझता है, लेकिन यह दुखद है कि वर्तमान पीढ़ी, जमीन की वास्तविकताओं से कटी पीढ़ी, जमीन के लिए, घरती के लिए पेड़ों की कीमत नहीं समझती। जसिंता लिखती हैं, **"वे पेड़ों को बर्दाश्त नहीं करते/ क्योंकि उनकी जड़े जमीन मांगती है।"**[6] यह केवल कविता की दो पंक्तियाँ नहीं है, बल्कि इन पंक्तियों में दुःख, पीड़ा, आक्रोश, गुस्सा, विरोध, प्रतिरोध सब एक साथ देखा जा सकता है।

यही कारण है कि जंगल इस तरह की व्यवस्था और मानसिकता के खिलाफ प्रतिरोध कर उठता है। और जब वह अपने पहचान छीने जाने, सस्ता मजदूर बना दिए जाने और श्रम के दोहन के खिलाफ विरोध करता है तो विद्रोही कहलाने लगता है। कवयित्री जसिंता की इन पंक्तियों में पूंजीपतियों के षड्यंत्र को बखूबी देखा जा सकता है- **"उधर ऊंची कीमत पर/ शहर को बाज़ार बंधक बनाता है/ इधर सस्ते में हर गाँव को/ बनिया-साहूकार बंधक बनाता है/ बंधक गाँव जब आवाज़ उठाता है/ तो यह देश समझता है/ जंगल सिर्फ प्रतिरोध करता है।"**[7] और जब वह प्रतिरोधी बन जाता है तो जनहित के नाम पर उसे नक्सल या इसी तरह के किसी उपनाम से घोषित कर उसकी हत्या कर दी जाती है। 'जनहित' शीर्षक कविता में जसिंता इसी यथार्थ को अभिव्यक्त करती हैं, **"मेरा पालतू कुत्ता/ सिर्फ**

इसलिए मारा गया/ क्योंकि खतरा देख वह भौंका था।/ मारने से पहले उन्होंने/ उसे घोषित किया पागल/ और मुझे नक्सल....जनहित में।"[8] आदिवासियत और पर्यावरण एक दूसरे के पूरक हैं। प्रकृति से कटकर आदिवासी समुदाय निराधार हो जाता है। जल-जंगल-जमीन उनके जीवन का आधार है। यह संस्कृति, 'अरण्य संस्कृति' है। प्रकृति के प्रति सहज लगाव व आत्मीयता का जो भाव इनके जीवन में रहा है, वही भाव उनकी कविताओं में भी दिखाई देता है। कवयित्री वन्दना टेटे लिखती हैं, **"हम सब/ इस धरती की माड़/ इस सृष्टि के हाड़/ हमारी हड्डियां/ विंध्य अरावली और निलगिरी/ हमारा रक्त/ लोहित, दामोदर, नर्मदा और कावेरी/ हमारा देह/ गंगा-जमुना-कृष्णा के मैदान/ हमारी छातियाँ/ जैसे झारखंड के पठार/ और जैसे कंचनजंघा/ हम फैले हुए हैं/ हम पसरे हुए हैं/ हम यहीं इसी पुरखा जमीन में धंसे हैं सदियों से।"**[9] वर्तमान दौर में पर्यावरण संकट एक बड़े संकट के रूप में हमारे सामने मौजूद है। इसके मूल में बाजारवादी संस्कृति और महानगरीय जीवन पद्धति है, जिसके लिए प्रकृति का कोई मोल नहीं हैं। प्रकृति को बोनसाई बनाने वाली इस संस्कृति को इस बात का अंदाजा ही नहीं कि धरती गमले में नहीं बची रह सकती है। भौतिक विकास से मोहग्रस्त यह संस्कृति उसी प्रकृति के प्रति असंवेदनशील दिखाई देती है, जिसके कारण धरती पर जीवन है। प्रकृति पर संकट केवल आदिवासियों के जीवन को प्रभावित नहीं कर रहा, बल्कि पूरी धरती इसके प्रभाव से प्रभावित हो रही है, यह संकट केवल आदिवासियों के अस्तित्व का नहीं बल्कि धरती पर संकट है, पर्वारण का विनाश केवल आदिवासियों का विनाश नहीं, बल्कि धरती पर जीवन का विनाश है। शहरों ने जंगलों की जगह कंक्रीट के जंगलों को महत्त्व दिया फिर तमाम तरह की प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए मशीनों पर निर्भर होने लगा। प्रकृति-विरोधी इस संस्कृत से बेचैन आदिवासी मन ऐसे शहर की तलाश करना चाहता है, **"जिसने घास और फूलों को/ बचाने के लिए/ झोंक दी हो अपनी पूरी ताक़त/ लड़ाई लड़ी हो कोई/ घासों के लिए/ प्राण गंवाये हों कभी/ फूलों के लिए/ जिसने जतन से बढ़ाया हो कोई पेड़।"**[10] आदिवासी मन यह जानता है कि मशीनों की आवश्यकता है, औद्योगिक विका आवश्यक है, लेकिन मशीनें सबकुछ नहीं हो सकतीं। मशीन होता यह मानव, मशीन होता बेचैन मन, अंततः किसी पेड़ की ठंडी छाँव में ही सुकून की सांस ले सकता है। 'हाँफती मशीने' शीर्षक कविता में जसिंता लिखती हैं, **"मशीनें/ पेड़ों को उखाड़ चुकने के बाद हाँफती हैं।/ अब हाँफती मशीनें ढूँढती हैं/ कहीं कोई पेड़ की छाँह।"**[11] आधुनिक हिंदी कविता की गौरवशाली परम्परा में प्रकृति-जल-जंगल-जमीन इत्यादि के प्रश्न बहुत प्रारम्भ से ही रहे हैं, लेकिन वर्तमान दौर में ये प्रश्न और अधिक ज्वलंत हो उठे हैं, चूंकि सबसे ज्यादा खतरें में यह पर्यावरण ही है। प्रकृति का भयानक दोहन का ही परिणाम है कि दुनिया के कई हिस्सों में जंगल और आदिवासियों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है, और इसी के साथ दूसरे जीवों का अस्तित्व भी खतरे में है। प्रकृति का अति दोहन ही है कि नदियाँ सुख रही हैं, जंगल के जंगल जले जा रहे हैं। उद्योगों के नाम पर प्रकृति को ख़त्म करना नई संस्कृति बन चुकी है। शहर जब जंगल में प्रवेश करता है तो जंगल में आग लग जाती है। यह भ्रम बिलकुल नहीं होना चाहिए कि शहर की सड़क जंगल तक पहुंचना विकास के लक्षण या उदाहरण हैं। अनुज लुगुन की एक कविता है, 'यह पलाश के फूलने का समय है', वे कहते हैं, **"जंगल में पलाश के फूल को देख/ आप भ्रमित हो सकते हैं कि/ जंगल जल रहा है/ जंगल में जलती आग को देख/ आप कतई न समझें पलाश फूल रहा है/ यह पलाश के फूलने का समय है/ और जंगल जल रहा है।"**[12] व्यवस्था के यथार्थ और विडम्बनाओं को बेहद प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने वाली कवयित्री ग्रेस कुजूर भी प्रकृति के दोहन और दोहरी नीतियों के खिलाफ आवाज़ उठाती दिखाई देती हैं। वे आने वाले भयावह समय से आगाह करते हुए कहती हैं- **"एक बूँद पानी के लिए/ तड़प-तड़प जाएँगी/ हमारी पीढ़िया/ इसीलिए/ मैं सच कहती हूँ/ हे समय के पहरेदारों!/ तुमने अवश्य सुना होगा/ एक वृक्ष की जगह/ लगाओ दूसरा वृक्ष/ क्या कभी सुना है/ एक पर्वत के बदले/ उगाओ दूसरा पर्वत।"**[13] जसिंता अपनी एक कविता, 'नदी, पहाड़ और बाज़ार', शीर्षक में कहती हैं, **"सूखे दरख्तों के बीच देख/ एक पतली पगडंडी/ मैंने नन्हीं**

पीढ़ी से कहा,/ देखो, यही थी कभी गाँव की नदी/ आगे देख जमीन पर बड़ी-सी दरार/ मैंने कहा, इसी में समा गए सारे पहाड़।"[14] राही दूमरचीर अपनी कविता 'उगाए जाते रहे शहर', शीर्षक कविता में कहते हैं। **"दरमियाँ एक तालाब था/ जो नदी-सा बहता था/ अब कंक्रीट के महल हैं दरमियाँ/ जो पानी की कब्र पर उगे हैं।"**[15] शहरीकरण के नाम पर नष्ट हो रहे प्राकृतिक परिवेश, नदियों और आदिवासियों के विस्थापन और उनकी पीड़ा की कविता है। राही आदिवासी समाज और जीवन के गहरे कंसर्न के कवि हैं। उनकी कविताएँ एक अलग सुख एवं जीवन दृष्टि से हमारा परिचय करवाती हैं। राही की कविताओं में आदिवासी जीवन-दर्शन, पर्यावरणीय चिंतन का स्वर उभरकर आते हैं। मनुष्य और प्रकृति के बीच पारस्परिक सम्मान की भावना राही की कविताओं के केंद्र में हैं। जंगल, नदी, पहाड़, पेड़- पौधे, पशु-पक्षी सभी परिवार की तरह उपस्थित दिखाई देते हैं, प्रकृति जीवनदाता है, इनकी कविताओं में। पर्यावरणीय विनाश की आलोचना करते हुए, कवि इस बात को स्थापित करते हैं कि मनुष्य प्रकृति का स्वामी नहीं, बल्कि उसका एक हिस्सा है, प्रकृति संपत्ति नहीं, सामुदायिक विरासत है। इसलिए इसकी रक्षा हमारी नैतिक जिम्मेदारी है।

आदिवासियों के प्रति संवेदना का भाव हमेशा से ही बहुत सतही रहा है, संवेदना की गहराई की कमी हमेशा खलती रही है। आर्य-अनार्य युद्ध में विजित होकर आर्यों द्वारा अपनी संस्कृति को जबरदस्ती लाद देने का इतिहास तो सर्वविदित है ही। पराजित अनार्य घने जगलों में शरण लेते रहे और अपनी मूल संस्कृति को बचाने के लिए निरंतर संघर्ष करते रहे और इस इतिहास को बहुत अधिक उजागर होने भी नहीं दिया गया है। विजयी वर्ग इस सिद्धांत पर काम करते रहे कि यदि किसी जाति अथवा वर्ग को लम्बे समय तक गुलाम या दास बनाकर रखना है तो उसकी मूल संस्कृति को ही नष्ट कर दिया जाए और उसे विजेता की संस्कृति के सांचे में ढाल दिया जाए, अधिकतर ऐसा ही हुआ भी, लेकिन कुछ समुदाय अपनी संस्कृति को बचाए रखने में सक्षम रही। कुछ अब फिर से अपनी मूल सांस्कृतिक-चेतना को वापस पा लेना चाहते हैं। जिन जातियों ने अपनी संस्कृतियों को संरक्षित रखने और संवर्धित करने में सक्षम रहीं, उन्हें गंवार, असभ्य, पिछड़ा कह कर उनके साथ षड्यंत्र किया गया। जबकि कालान्तर में उनकी यही सांस्कृतिक निधि उनकी पहचान भी बनी और धरती को बचाए-बनाए रखने का सिद्धांत भी। 'ससन दिरी' शीर्षक कविता में अनुज लुगुन कहते हैं, **"हथियार बंद राजाओं के खिलाफ/ समय की पगडंडियों पर चलते हुए/ इसी तरह इतिहास रचते गए/ पुरखों के नाम पत्थर गाड़ कर/ हम तैयार होते गए/ नए मोर्चों पर लड़ाई के लिए/ इसमें जंगल के लिए लड़ते हुए/ एक पेड़ की कहानी है।।.../ धरती को बचाने की/ फेहरिस्त में की गई न्यायपूर्ण हस्तक्षेप है उनकी/ उन्हीं हस्तक्षेपों के साथ जीवित हैं/ साखू के पेड़ के नीचे सैकड़ों पत्थर/ जो हमें मरने नहीं देते।"**[16]

अनुज लुगुन समकालीन हिंदी कविता-संवेदना में एक महत्त्वपूर्ण नाम हैं। आदिवासी अस्मिता और दर्शन का यह संवेदनशील कवि मनुष्य-प्रकृति संबंध की चेतना को अपने शब्दों से जीवंत कर उठता है। मनुष्य और प्रकृति के बीच के आत्मीय संबंध को 'पर्यावरण' शीर्षक कविता में वे बखूबी अभिव्यक्त करते हैं और यह अभिव्यक्ति केवल कवित्व के लिए नहीं बल्कि उस समुदाय एवं दर्शन का हिस्सा होने के नाते धरती और मनुष्य के बीच आत्मीय संबंध को बचा लेने की सदीक्षा है। इस कविता में पेड़ को संवेदनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों के वाहक के रूप में चिह्नित किया गया है। पेड़ के भीतर का दुख, आशीष और प्रार्थनाएँ ख़रीदी-बेची नहीं जा सकतीं। उपभोक्तावादी-साम्राज्यवादी संस्कृति के लिए जंगल, नदियाँ और पहाड़ सभी बाज़ार की वस्तुएँ मात्र हैं, आदिवासी-संस्कृति इसी भाव और विचार का प्रतिरोध करती है। इस कविता की पंक्तियाँ लूट-संस्कृति का विरोध करती हैं और यह भाव हमारे सम्मुख रखती हैं कि प्रकृति केवल आर्थिक मूल्य नहीं, बल्कि उसका सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य भी है। पेड़ में दुख, भाव, प्रार्थनाओं को देखना कवि की विश्वदृष्टि का ही परिचायक है । कवि अनुज कहते हैं, "**कुछ दुख हैं / जो अब भी जड़ों में हैं / कुछ भाव हैं / जो अब भी टहनियों पर टंगे हैं / कुछ आशीष हैं / जो अब भी फुनगियों में हैं / कुछ प्रार्थनाएँ**

हैं / जो अब भी शाखाओं में है / कुछ लोग हैं / जो अब भी पेड़ों की पूजा करते हैं।"[17] पेड़ों ने अपनी संवेदनाएं अब तक मनुष्यों के लिए बचा रखी हैं और ठीक ऐसे ही पेड़ों के लिए भी कुछ लोग अपनी संवेदनाएं बचाए हुए हैं, ये वही लोग हैं जो पेड़ों की पूजा करते हैं, पूजा मतलब कर्मकांड नहीं, बल्कि पूर्वजों, देवताओं और सामुदायिक स्मृतियों के रूप में पेड़ों-प्रकृति को जीवंत सत्ता की भाँति अपनाकर उसकी अर्चना - उपासना करना है। अंततः यही संवेदना-संस्कृति धरती पर जीवन को बचाए रख सकती है, यही सह -अस्तित्व की संस्कृति! पेड़ों और प्रकृति के प्रति इतना अथाह प्रेम कि जसिंता केरकेट्टा 'प्रेम में पेड़' हो जाने की बात कहती हैं। पूरे कविता संग्रह की कविताएँ प्रेम की व्यापक मानवीय अवधारणा की बात करती हुई, आदिवासी जीवन-मूल्यों के पक्ष में एवं प्रकृति-विरोधी विकास मॉडल के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर मुखर करती है। प्रेम की ऐसी अवधारणा नहीं, जिसमें केवल स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम नहीं, अपितु मनुष्य, प्रकृति, समुदाय और समूची सृष्टि के प्रति करुणा, लगाव और ज़िम्मेदारी का भाव! प्रेम में पेड़ होना, पूरी सृष्टि के लिए संरक्षण भाव से भरा होना है। इस संग्रह की एक कविता है, 'जब पेड़ उखड़ता है', इस कविता में पुरखे की स्मृतियाँ, जिस पुरखे में जंगल भी शामिल हैं, के माध्यम से कवयित्री मनुष्य और प्रकृति के बीच के प्रेम की कहानी बयान करती हैं, स्पर्शों और स्मृतियों को महसूस करने की बात करती हैं। वे कहती हैं, "**जंगल से गुजरते हुए उसने / ओक के पेड़ की पत्तियों को चूमा / जैसे अपनी माँ की हथेलियों को चूमा / कहा-यह मेरी माँ का हाथ पकड़कर बड़ा हुआ है / इसके पास आज भी उसका स्पर्श है / जंगल का हाथ पकड़कर / मेरे पुरखे भी बड़े हुए हैं / वे नहीं हैं पर यह आज भी वहीं खड़ा है / इसने मेरे पुरखों की स्मृतियों / और स्पर्शों को बचाकर रखा है / उन्हें महसूस करने के लिए / मैं इन्हें छूता हूँ, चूमता हूँ / मैं इनसे प्यार करता हूँ।"**[18] जसिंता के लिए पेड़, प्रेम और प्रतिरोध दोनों का प्रतीक है। पेड़, जिसकी जड़े ज़मीन में बहुत गहरे जाती हैं, जिसकी फुनगियाँ आसमान छूती हैं। पेड़, जिसमें सीमाहीन धैर्य है, जिसमें स्वार्थहीनता है। इसी पेड़ से आदिवासियत खूब प्रेम करती है। जसिंता कहती हैं, "**सोचती हूँ, आदिवासी दुनिया में कैसे, प्रेम भी पेड़ हो जाता है।"** पेड़ों के सहारे अपने पूर्वजों की बात करती यह कविता सिर्फ़ अतीतजीवी नहीं है, अतीत की सुंदर-सुखद समायोजन की याद के साथ-साथ समकालीन उपभोक्तावादी संस्कृति का विरोध करते हुए भविष्य की चिंता में चिंतित भी है। चिंता इस बात की है कि प्रकृति केवल संसाधन बनकर रह गई है, चिंता के साथ यह चिंतन भी कि प्रकृति के प्रति मानवीय भाव रखे बिना न तो मनुष्यता बच सकती है, न जीवन और न ही पूरी प्रकृति। प्रेम में सत्ता और वर्चस्व का प्रतिकार करती इस संग्रह की कविताएँ वर्चस्ववादी संस्कृति का नकार करती दिखाई देती हैं। प्रेम में क़ब्ज़ा, अधिकार या नियंत्रण की कोई जगह कभी भी नहीं हो सकती, अगर है तो वह प्रेम नहीं कुछ और ही है। प्रेम की बात करते हुए जसिंता तथाकथित 'राष्ट्रप्रेम' और सत्तापक्ष की स्वार्थलोलुपता को भी उजागर करती हैं। प्रेम के नाम पर किसी की भी पहचान अथवा अस्तित्व ख़त्म कर देना न कभी जायज़ था और न कभी होना चाहिए। सबकुछ एक जैसा कर देने को प्रेम कहे जाने पर कवयित्री को ऐतराज है और कवयित्री को ही क्यों, हर उस व्यक्ति को इस अवधारणा का विरोध करना चाहिए, जो वैविध्य को सुंदर मानता हो। सत्ता के दम पर विविधता पर प्रहार किसी भी तरह से प्रेम नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति मानवीय पर्यावरण के लिए बेहद ख़तरनाक और अमानवीय है। जसिंता कहती हैं, "**इधर देश के प्रेम में कुछ लोग / सबको 'एक' कर देना चाहते हैं / जो 'एक' न हो पाए, वे मारे जाते हैं / प्रेम के नाम पर / सबको एक करने की चाहत में / वे मनुष्य भी नहीं रह पाते हैं।"**[19] एक ऐसे समय में जब पूरे संसार में वर्चस्व की राजनीति ख़ूब फलफूल रही है, वर्चस्व बनाए रखने के लिए कोई किसी भी हद तक जा रहा है, वर्चस्व स्थापित करने और उसे बनाए रखने के लिए देश के देश खत्म कर दिए जा रहे है, वर्चस्व की राजनीति करने वाले ही ताकतवर कहला रहे हैं, ऐसे समय में क़ब्ज़ाकरण के ख़िलाफ़ प्रेम की बात करना अपने आप में बेहद ताक़त की बात है, एक अलग ही सुखद-संकल्प की बात है! आदिवासी कवि प्रकृति और मनुष्य के बीच संवाद स्थापित करने का प्रयास करते हैं और प्रतिबार प्रकृति-विरोधी

नीतियों और मान्यताओं के विरोध के साथ-साथ अनुरोध का भाव भी इनकी अभिव्यक्ति में दिखाई देता है, अनुरोध धरती और धरती पर जीवन को बचा लेने का! शहर के दोस्त के नाम पत्र' शीर्षक कविता संवाद और प्रतिरोध का एक बेहद मार्मिक उदाहरण है। वे लिखते हैं, **"शहर के मेरे दोस्त / ये बेमौसम के फूल हैं/ इनसे मेरी प्रियतमा नहीं बना सकती / अपने जुड़े के लिए बाजरे/ मेरी माँ नहीं बना सकती/ मेरे लिए सुकटी या दाल / हमारे यहाँ इससे कोई त्योहार नहीं मनाया जाता।"**[20] इसी कविता में जंगल का दर्द और उसका हाल बयान करते हुए वे कहते हैं, **"हमारे जंगल में लोहे के फूल खिले हैं/ बॉक्साइट के गुलदस्ते सजे हैं/ अभ्रक और कोयला तो/ थोक और खुदरा दोनों भावों से/ मंडियों में रोज सजाए जाते हैं/ यहाँ बड़े-बड़े बाँध भी / फूल की तरह खिलते हैं/ इन्हें बेचने के लिए/ सैनिकों के स्कूल खुले हैं/ यहाँ खुले स्कूल/ बारह खड़ी की जगह/ बारहों तरीकों के गुरिल्ला युद्ध सिखाते हैं।"**[21]

वन और वन्य प्राणियों के लिए सरकारें समय-समय पर संरक्षण की योजनाएँ बनाती तो हैं, लेकिन उस पर अमल कितना हो पाता है, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। छत्तीसगढ़ की सरकार में वन विभाग ने गजराज और जामवंत जैसी महत्त्वपूर्ण वन्यजीव संरक्षण योजनाएँ बनाई है, लेकिन इसी छत्तीसगढ़ के हसदेव अरण्य की हरियाली को देखते ही देखते विकास के नाम पर पूरा उजाड़ कर दिया गया। हम वन्य जीवों का संरक्षण वन के बिना कैसे कर सकते हैं। जैसा कि हम पढ़ते रहे हैं, भारत को सदियों से वनों और जैव विविधता की भूमि माना जाता रहा है। जंगल केवल पेड़ों का समूह नहीं है, बल्कि वह जल, मिट्टी, जलवायु, जैव विविधता और आदिवासी समुदायों के जीवन का आधार रहा है। बावजूद इसके तथाकथित विकास के नाम पर जंगलों की अंधाधुंध कटाई की जा रही है। एक तरफ़ सरकारें और अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं जंगल संरक्षण के नाम पर परियोजना पर परियोजनाएँ बनाती जा रही हैं, वहीं दूसरी तरफ़ खनन, उद्योग, बांध, एक्सप्रेस-वे के लिए असंख्य पेड़ों को काटने की अनुमति भी आसानी से दे दी जाती है। यही विरोधाभास आधुनिक विकास मॉडल की भयावह विडंबना है। आदिवासी इसी विरोधाभास के खिलाफ हैं, वास्तविक विकास से उनको भी कोई दिक्कत नहीं है। उनका विरोध इसलिए भी है कि यह विकास न केवल उनके अस्तित्व का शत्रु बनता जा रहा है, बल्कि यह समूची धरती का शत्रु है। अरावली पर्वत मालाओं को काटे जाने का निर्णय ऐसे ही विरोधाभास का उदाहरण है, और ऐसे सैकड़ों उदाहरणों को गिनाया जा सकता है। आजादी के बाद भी देश ने विकास के उस मॉडल का पक्ष लिया, जिसके केंद्र में बड़े उद्योग, खनन परियोजनाएं और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन रहा है और यही मॉडल आगे भी वैसे ही बना रह गया, बल्कि उससे और अधिक अमानवीय बनता गया। इस मॉडल में जंगलों को सिर्फ और सिर्फ आर्थिक संसाधन के रूप में देखा गया, जीवन और संस्कृति के रूप में नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि छत्तीसगढ़ का हसदेव अरण्य, झारखंड के सारंडा वन, उड़ीसा के नियामगिरी क्षेत्र, महाराष्ट्र का ताडोबा क्षेत्र, मध्यप्रदेश और उत्तर-पूर्वी राज्यों के वन क्षेत्र खनन और औद्योगिक परियोजनाओं के भेंट चढ़ते चले गए। और इसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव आदिवासियों के जीवन पर पड़ा। आदिवासियों के साथ यह व्यवहार नया नहीं है, यह दुर्व्यवहार बहुत पुराना है। आदिवासी कविताओं में ऐसे ही दुर्व्यवहार और विकास की ऐसी ही विनाशकारी नीतियों का विरोध दिखाई देता है, न कि वे देश में विकास के विरोधी हैं। सरिता सिंह बड़ाइक 'आज का जंगल', शीर्षक कविता में कहती हैं, **"नहीं है अब वैसा जंगल / खड़कती है जूतों की आवाज़ सूखी पत्तियों पर/ छाया है आतंक का साम्राज्य चहुँ ओर/ बताया था जिसे धन्वन्तरि और चरक ने/ आँवला, बहेड़ा, हरड़ के पेड़-पौधे/ देते थे जीवन मानव को/ नहीं है अब वैसा जंगल/ वीरान होते, उजड़ते जंगल, कटते पेड़।"**[22]

सबसे दुखद बात यह है कि ऐसी भयावह स्थिति पर न तो हम सोच रहे हैं और न ही कुछ बोल रहे हैं, किसी को गुस्सा नहीं आ रहा है, सबको यही लगता है कि इससे हमारा क्या वास्ता। ऐसी ही स्थिति पर कवि अनुज लिखते हैं, **"कोई नहीं बोलता इनके हालात पर/ कोई नहीं बोलता जंगलों के कटने पर/ पहाड़ों के टूटने पर/ नदियों के**

सूखने पर/ ट्रेन की पटरी पर पड़ी तुरिया की लाश पर/ कोई कुछ नहीं बोलता."[23] कुछ आवाज़े उठती भी हैं तो वे या तो भय से दब जाती हैं या फिर उनका जबरन दमन कर दिया जाता है, और ऐसा नहीं है कि पूरा का पूरा आदिवासी समाज प्रतिरोध में खड़ा होता है। ऐसा नहीं है कि इस समुदाय में भी आदिवासियत सबके यहाँ सुरक्षित बची है। मुख्यधारा की विकृतियाँ इनमें भी उसी रूप में हैं, जैसी कि मुख्यधारा में। सत्ता का हाथ कंधे पर मिलते ही ये भी उनकी ही वेशभूषा में परिवर्तित हो जाते हैं। कवि के अनुसार, "**इनमें भी वही आक्रोशित हैं/ जो या तो अभावग्रस्त हैं/ या तनावग्रस्त हैं/ बाक़ी तटस्थ हैं/ या लूट में शामिल हैं/ मंत्री जी की तरह/ जो आदिवासियत का राग भूल गए/ रेमंड का सूट पहनने के बाद."**[24] समकालीन हिंदी कविता की सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण कवयित्री निर्मला पुतुल की कविताओं में भी आदिवासी समाज, प्रकृति और संस्कृति बेहद जरूरी सवाल की तरह अभिव्यंजित होते दिखाई देते हैं। आधुनिक उपभोक्तावादी सोच के विपरीत इनकी कविताएँ आदिवासी समुदाय की पहचान, संस्कृति और जीवन का आधार प्रकृति एवं पर्यावरण की बात करती हैं। जंगलों का विनाश केवल वृक्षों के कट जाने तक सीमित नहीं होता, बल्कि इन वृक्षों के साथ आदिवासियों की पहचान, संस्कृति और जीवन पद्धति सब पर प्रहार किया जाता है, इसलिए पर्यावरण संरक्षण जीवन का संरक्षण है, संस्कृतियों का संरक्षण है। वे कहती हैं, "**क्या तुमने कभी सुना है/ सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से/ पेड़ों की चीत्कार?/ कुल्हाड़ियों के वार सहते/ किसी पेड़ की हिलती टहनियों में/ दिखाई पड़े हैं तुम्हें/ बचाव के लिए पुकारते हज़ारों-हज़ार हाथ?/ क्या होती है तुम्हारे भीतर धमाल/ काटकर गिरता है जब कोई पेड़ धरती पर?/ सुना है कभी/ रात के सन्नाटे में अँधेरे में मुँह ढाँप/ किस कदर रोती हैं नदियाँ!"**[25] और ऐसा है कि संरक्षण की यह यह संस्कृति शहरी उपभोक्तावादी मानसिकता से नहीं बचाई जा सकती। यही कारण है कि आदिवासियत के भाव से भरा मन वापस अपने गाँव, वापस अपनी आदिवासियत की ओर लौट जाना चाहता है। अनुज लुगुन के शब्दों में - "**शहर में मेरे लोग मिलें/ तो उनका ख़याल जरूर रखना/ यहाँ से जाते हुए उनकी आँखों में/ मैंने नमी देखी थी/ और हाँ!/ उन्हें शहर का रीति रिवाज भी नहीं आता/ मेरे दोस्त/ उनसे यहीं मिलने की शपथ लेते हुए/ अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ ।"**[26]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आदिवासी जीवन-दर्शन में निहित पर्यावरणीय नैतिकता न केवल सांस्कृतिक धरोहर है, बल्कि वैश्विक पर्यावरण संरक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक-सिद्धांत भी है। यह दर्शन हमें सिखाता है कि विकास केवल आर्थिक नहीं, अपितु पर्यावरण संतुलन एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित होना चाहिए। आदिवासी समुदाय में जीवन का अर्थ केवल भौतिक समृद्धि नहीं, संतुलन और पारिस्थितिक न्याय है। ऊपर जिन कवियों और उनकी कविताओं के उदाहरण दिए गए हैं, वे सारी कविताएँ प्रकृति के साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ़ न्याय के लिए संघर्ष के रूप में देखी जा सकती हैं। गलत के खिलाफ विरोध-प्रतिरोध दर्ज करना ही सही के साथ खड़ा होना होता है। संसार की सुन्दरता से प्रेम करने के लिए तमाम असुन्दर्ताओं से घृणा करनी होती है। ये कविताएँ विकास के उस मॉडल से घृणा अभिव्यक्त कर रही हैं, जो धरती को विनाश की ओर ले जा रही हैं। आदिवासी जीवन-दर्शन और संस्कृति की ये कविताएँ तथाकथित विकास के मॉडल के समक्ष एक वैकल्पिक और सतत दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हैं, जो प्रकृति और जीवन के बीच संतुलित सम्बंध स्थापित करने की प्रेरणा देता है। आदिवासी कविताएँ मनुष्य की, जीवन की शाश्वतता की बात करती हैं। एक तरफ इसमें गहरा इतिहास-बोध है, जिसमें जीवन दायिनी परम्पराओं को संजोने का भाव दिखाई देता है तो दूसरी तरफ आन्दोलन धर्मी चेतना का भी संचार दिखाई देता है। मनुष्य की वैश्विक चिंताओं में शामिल पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी का संकट आदिवासी कविता की पृष्ठभूमि है। वंदना टेटे, आदिवासी कविताओं को '**आदिवासी साहित्य का घोषणा पत्र**' कहती हैं।एक ऐसा घोषणापत्र जो केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति मात्र नहीं, बल्कि आदिवासी जीवन-दर्शन, प्रकृति केंद्रित संस्कृति और सामुदायिक नैतिक मूल्यों का घोषणापत्र है।

सन्दर्भ सूची:

1. Samkalinjanmat.in , Oct 2021, तिर्की पार्वती की कविताएँ।
2. https//www.hindwi.org.kavita तिर्की पार्वती की कविताएँ।
3. rajkamalprakashan.com . तिर्की पार्वती की पाँच कविताएँ।
4. केरकेट्टा जसिंता, प्रेम में पेड़ होना,राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2024, पृष्ठ सं- 19-20।
5. उपर्युक्त, पृष्ठ सं- 37।
6. केरकेट्टा जसिंता, जड़ो की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्कारण 2018, पृष्ठ सं-168।
7. उपर्युक्त, पृष्ठ सं- 39
8. उपर्युक्त, पृष्ठ सं- 158
9. टेटे वंदना, किनिर, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, संस्करण 2022, पृष्ठ सं- 11।
10. केरकेट्टा जसिंता, जड़ो की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्कारण 2018, पृष्ठ सं-118
11. केरकेट्टा जसिंता, जड़ो की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्कारण 2018, पृष्ठ सं-156
12. https//kavitakosh.kavita.in, तिर्की पार्वती की कविताएँ।
13. Samkalinjanmat.in , Dec 2024.
14. केरकेट्टा जसिंता, अंगोर, आदिवाणी प्रकाशन, कोलकाता, 2016, पृष्ठ सं-32
15. https//www.hindwi.org . राही डूमरचीर, उगाए जाते रहे शहर।
16. hindisamay.com. लुगुन अनुज, ससन दिरी।
17. https://kavitakosh.org पर्यावरण, लुगुन अनुज ।
18. केरकेट्टा जसिंता, प्रेम में पेड़ होना, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2024
19. उपर्युक्त
20. https:www.hindwi.org/kavita लुगुन अनुज, शहर के दोस्त के नाम पत्र
21. https:www.hindwi.org/kavita लुगुन अनुज, शहर के दोस्त के नाम पत्र
22. सं. मीना हरिराम, समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013, पृष्ठ सं. 46
23. hindismay.com , लुगुन अनुज, अघोषित उलगुलान ।
24. hindisamay.com , लुगुन अनुज, अघोषित उलगुलान।
25. https://www.amarujala.com पुतुल निर्मला, बूढ़ी पृथ्वी का दुख।
26. hindisamay.com , लुगुन अनुज, अघोषित उलगुलान ।

•